पश्चिमीकरण के बिना आधुनिकीकरण

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

पश्चिमीकरण
के बिना
आधुनिकीकरण

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-११००५५

प्रकाशक :
सुरुचि प्रकाशन
(सुरुचि संस्थान का प्रकाशन विभाग)
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला,
नयी दिल्ली-११००५५

मूल्य : २.५० रुपये

प्रथम संस्करण, १९८४

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय
सुभाष पार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय निवेदन

यह पुस्तिका १३ अगस्त, १९८३ को नयी दिल्ली में भारत विकास परिषद् द्वारा आयोजित संगोष्ठी में सुविख्यात विचारक और प्रमुख श्रमिक नेता, श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी द्वारा दिये गये भाषण का उन्हीं के द्वारा विस्तृत किया गया रूप है।

यदि इस प्रकाशन से 'पश्चिमीकरण के बिना आधुनिकीकरण' के महत्त्वपूर्ण विषय पर सार्वजनिक वाद-संवाद प्रारम्भ होगा तो हम स्वयं को यथेष्ट रूप से पुरस्कृत मानेंगे।

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्,

न चाऽपि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्षाऽन्यतरद् भजन्ते,

मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ।।

—कालिदास

इस देश के लोग सहज रूप से यह बात अनुभव करते हैं कि हम जिस सांस्कृतिक सम्पदा के प्राकृतिक उत्तराधिकारी हैं, वह समूची मानव जाति की धरोहर है और भारत का यह दायित्व है कि वह अपनी अद्वितीय संस्कृति के लाभ दूसरों को सुलभ कराये तथा उनके सर्वोत्तम तत्त्वों को स्वयं ग्रहण करे। हमने अन्य संस्कृतियों की स्वास्थ्यकर प्रवृत्तियों का सदैव स्वागत किया है। हम निरन्तर 'अन्य जातियों के साथ हितकर आदान-प्रदान' करते रहे हैं। हम सदैव 'एक सभ्यता की व्याख्या दूसरी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत' करते रहे हैं और उनके बीच समान तत्त्वों को ढूंढ़ने का प्रयास करते रहे हैं। हिन्दुओं ने अपने अवचेतन मन में सदैव यह अनुभव किया है कि विश्व में कहीं भी किसी को होने वाला कष्ट समूची मानव जाति की सुख-शान्ति के लिए भयकारी है।

भारतीय स्वाभाविक रूप से अन्तरराष्ट्रीयतावादी हैं

हम लोग कभी भी पृथक्तावादी नहीं रहे। प्राचीनतम काल से हम विभिन्न जातियों के लोगों से सम्पर्क स्थापित करते रहे हैं और उनके साथ सद्भावना एवं मित्रता के सेतुओं का निर्माण करने का प्रयत्न करते रहे हैं। बिलकुल निकट भूत में भी, भारत ने अपने सन्तों, विद्वानों, सैनिकों, वैज्ञानिकों, प्रौद्योगिकीविदों, कलाकारों, शिल्पियों, व्यवसायियों, व्यापारियों, उद्योगपतियों और श्रमिकों को विदेशों में भेजा है, जो इसी उद्देश्य को सामने रखकर हमारे अनौपचारिक, सांस्कृतिक राजदूतों के रूप में निष्ठा-पूर्वक काम करते रहे हैं। हम लोग स्वभाव से ही अन्तरराष्ट्रीयतावादी हैं। हमारे लिए राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता के बीच कोई परस्पर-विरोध नहीं है। मानव-चेतना की प्रगति के मार्ग में राष्ट्रवाद आदिमजातिवाद और मानववाद के बीच का सेतु है और स्वयं मानववाद विश्वजनीनता (यूनीवर्सलिज्म) की दिशा में एक बड़ा पग है।

विदेशी राष्ट्रवाद नहीं

किन्तु इस विश्वजनीनता को—अथवा धरती के यथार्थ पर उतरकर कहें तो अन्तरराष्ट्रवाद को—विदेशी राष्ट्रवाद से अर्थात् विदेशों और विदेशी संस्कृति के प्रति दास भाव, राष्ट्रीय आत्म-विस्मृति एवं मानसिक दासता से स्पष्ट भेद करके देखा जाना चाहिए।

बुद्धिजीवियों की पूर्व-धारणाएँ

हमें भली-भाँति ज्ञात है कि हमारे बुद्धिजीवी पश्चिम पर किस प्रकार आसक्त हैं। उनके लिए पश्चिम की प्रत्येक वस्तु एक मानदण्ड है, हिन्दुओं की कोई वस्तु मानक नहीं। उनके लिए शेक्सपियर ग्रेट ब्रिटेन का कालिदास नहीं है, न ही नेपोलियन यूरोप का समुद्रगुप्त है, किन्तु सरदार पटेल भारत का बिस्मार्क है। 'गीता' को एक महान् ग्रन्थ होना ही चाहिए, क्योंकि एमर्सन ने ऐसा कहा है! शाक्त और तन्त्र मत तिरस्करणीय नहीं होंगे, क्योंकि सर जान वुडरोफ उनका पक्षपोषण करते हैं! नरेन्द्र और रवीन्द्र हमसे मान्यता कैसे प्राप्त कर सकते हैं जबतक कि पहले पश्चिम के अधिकारी विद्वान् उनकी योग्यता को स्वीकार न कर लें? अन्य जातियों पर श्वेत जातियों के प्रभुत्व को उनकी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का निर्णायक प्रमाण माना जाना चाहिए! गुप्त राजाओं के शासनकाल अथवा दक्षिण-पूर्व एशिया में चीनी विस्तारवाद के विरुद्ध सात शताब्दियों तक एक सुदृढ़ प्राचीर के रूप में खड़े रहनेवाले शैलेन्द्र साम्राज्य से सम्बन्धित हिन्दू इतिहास के स्वर्णयुगों का गुण-गान कौन करता है? यह सब कोरी बकवाद है—शेख चिल्ली की कहानियाँ हैं ये! अमरीका के तट पर सर्वप्रथम पहुँचने वाले हिन्दू नहीं, यूरोपीय थे! अतीत में हिन्दू विज्ञान की प्रगति की सभी बातें मूर्खतापूर्ण हैं! यूराल के पूर्व में विज्ञान पनप कैसे सकता है? यूरोपीय पुनर्जागरण के समय तक इतिहास रुका खड़ा रहा! संस्कृत मृत भाषा है; लेटिन समूचे ज्ञान का स्रोत है! भारतवर्ष की मूल निवासी आर्यजाति और भारतीय इतिहास के कालानुक्रम के बारे में पश्चिम के सिद्धान्त चाहे नितान्त काल्पनिक ही हों, किन्तु उनकी सत्यता को कोई

चुनौती नहीं दे सकता, क्योंकि उनकी उद्घोषणा पश्चिमी विद्वानों द्वारा की गयी है ! आप कौटिल्य की तुलना मैकियावेली से और हिन्दू विधि-निर्माताओं की तुलना पश्चिम के संविधान-विशेषज्ञों से कैसे कर सकते हैं ? यह दावा करना बेतुका है कि पतंजलि की अन्तर्दृष्टि फ्रायड, जुंग और एडलर—तीनों की संयुक्त प्रज्ञा से श्रेष्ठ थी ! यह कल्पनातीत है कि एक सामाजिक तत्त्ववेत्ता के रूप में समर्थ रामदास अपने यूरोपीय समकालीन विचारकों—जैसे हाब्स, लॉक, डेकार्ट, लाइब्नीज और स्पिनोजा—से कहीं आगे थे ! सभी व्याधियों की ओषधि केवल पश्चिम उपलब्ध करा सकता है ! हमारी सामाजिक-आर्थिक अथवा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए हमारे बुद्धिजीवी पश्चिमी सिद्धान्तों से सहायता पाने के लिए भागते हैं। उन्हें अपनी स्वयं की संस्कृति से कुछ सीखना नहीं है; अपनी स्वयं की बुद्धि की प्रखरता पर वे भरोसा नहीं कर सकते। कोई सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता, जबतक कि कोई पश्चिमी विद्वान् ऐसा होने का प्रमाणपत्र न दे दे ! यदि वे किसी एक पश्चिमी सिद्धान्त से निराश हो जायेंगे तो अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के स्थान पर किसी अन्य पश्चिमी सिद्धान्त को ढूंढ़ने चल पड़ेंगे। वे संभवत: यह तो मान सकते हैं कि मार्क्स, एडम स्मिथ, जे० एस० मिल, रिकार्डो और माल्थूस पुराने पड़ चुके हैं, उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में एल्फ्रेड मार्शल, विकेल, गुन्नार मिरडल और कीन्स की प्रासंगिकता पर भी संशय हो सकता है, किन्तु अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के सन्दर्भ में स्वतन्त्र चिन्तन-मनन न करने पर तो वे अडिग हैं। इसके स्थान पर वे प्रोफेसर रोस्टोव द्वारा प्रतिपादित आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाओं के साथ अधिक अपनत्व अनुभव करेंगे और यह चर्चा करने में व्यस्त हो जायेंगे कि क्या हम तीसरी 'उड़ान की अवस्था' में पहुँच गये हैं, जिससे उसके बाद 'परिपक्वता की ओर' की चौथी अवस्था को पार करके 'बहुमात्रा-उपभोग' की अवस्था में पहुँचा जा सके।

यह प्रवृत्ति उनकी इस पूर्व-धारणा का स्वाभाविक परिणाम है कि 'पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है'।

औचित्य

अब इस पूर्व-धारणा की प्रामाणिकता की परख करने का समय आ गया है।

इसलिए, 'पश्चिमीकरण के बिना आधुनिकीकरण' पर विचार करने के लिए इस गोष्ठी का आयोजन उचित ही है।

"शब्द मार डालता है"

किन्तु विषय पर चर्चा करने से पूर्व 'आधुनिकीकरण' और 'पश्चिमीकरण' शब्दों के अर्थ का स्पष्ट निर्धारण करना आवश्यक है।

वाल्टेयर ने कहा था, "यदि तुम मुझसे वार्तालाप करना चाहते हो तो अपने शब्दों की परिभाषा दो"। किसी भी सार्थक वार्तालाप के लिए यह अत्यावश्यक है—विशेष रूप से उस समय, जब विचाराधीन विषय शास्त्रीय (Technical) हो और लोगों को शब्दों का प्रयोग अयथार्थ रूप में करने की आदत हो। सही चिन्तन के लिए लोक-प्रचलित शब्दों के अत्याचार से मुक्त होना बहुत आवश्यक है, जिनका प्रयोग बड़े अस्पष्ट रूप में किया जाता है। अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रेलिजन' का भारतीय भाषाओं में 'धर्म' अनुवाद करने से जो अनर्थ हुआ है, वह इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। 'कम्यूनिज्म' का अनुवाद 'साम्यवाद' किया जाता है, यद्यपि 'साम्यवाद' शब्द में कहीं भी 'कम्यून' का अर्थ प्रकट करनेवाला कुछ नहीं है और 'कम्यूनिज्म' में 'साम्य' का कोई भाव नहीं है। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दों का अंग्रेजी के 'थीइस्ट' और 'ऐथीइस्ट' शब्दों में अनुवाद भी इसी श्रेणी में आता है। इन संस्कृत शब्दों का अर्थ है—श्रुतियों और स्मृतियों में विश्वास करने वाला या विश्वास न करने वाला व्यक्ति; इनका ईश्वर में विश्वास या अविश्वास से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'माया' और 'मिथ्या' शब्दों का 'इलूजन' के रूप में त्रुटिपूर्ण अनुवाद इस प्रकार का एक अन्य सुपरिचित उदाहरण है। कालान्तर में हम यह अवश्य अनुभव करेंगे कि 'हिन्दुत्व' का अनुवाद 'हिन्दुइज्म' किये जाने से 'हिन्दुत्व' के हित को बड़ी हानि पहुँची है; 'हिन्दुत्व' का सही अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'हिन्दूनेस' है।

अभी इन्हीं दिनों पंजाब के बारे में चल रहे सार्वजनिक विवाद में उर्दू शब्द 'कौम' को दो सर्वथा भिन्न अर्थ प्रदान किये गये हैं। आजकल भारत में प्रयुक्त हो रहा 'सेकुलर' शब्द इसका एक अन्य उदाहरण है। 'सेकुलर' का अर्थ है—'इस संसार से सम्बन्धित, लौकिक, जो पावन न हो, जो मठीय (मोनैस्टिक) न हो, जो पुरोहितों आदि से सम्बन्धित न हो, अनित्य, पार्थिव, साधारण।' सामाजिक विज्ञानों के विश्वकोश में कहा गया है, "दर्शन के क्षेत्र में सेकुलरिज्म को ईश्वरीय विद्या के और अन्ततोगत्वा तत्त्वमीमांसा के परम एवं सर्वव्यापक तत्त्व के विरुद्ध विद्रोह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका अर्थ यह हो गया है कि कोई भी सांसारिक शासक स्वतः अपने अधिकार से शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।" दूसरे शब्दों में यह यीशुमसीह द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का द्योतक है—"जो भगवान् का है, वह भगवान् को अर्पित करो और जो सीजर (शासक) का है, वह सीजर को दो"। इस प्रकार, पण्डित नेहरू 'सेकुलर' शब्द के प्रयोग से जो भाव व्यक्त करना चाहते थे, वह उस अर्थ से कुछ भिन्न था जो सम्पूर्ण संसार में इस शब्द से सामान्यतः जाना जाता है। 'सेकुलर राज्य' की नेहरूवादी धारणा का निकटतम पर्यायवाची शब्द सम्भवतः 'असाम्प्रदायिक राज्य' होगा, यद्यपि मैं इस शब्द का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि इससे अधिक उपयुक्त शब्द मिल नहीं रहा है। यीशु ने कहा था, "शब्द मार डालता है", और यदि किसी शास्त्रीय विषय पर सार्वजनिक वाद-विवाद में प्रयुक्त मुख्य शब्दों की स्पष्ट परिभाषा पहले से ही न कर दी जाये तो बात और भी अधिक उलझ जाती है।

'आधुनिकीकरण'

क्या हम 'आधुनिकीकरण' की परिभाषा कर सकते हैं?

'आधुनिक' का अर्थ है—'वर्तमान और अभिनव काल का' अथवा 'वर्तमान या अभिनव काल की विशेषताओं वाला'।

रूढ़िगत रूप में, 'आधुनिकतावाद' शब्द का आशय है आधुनिक विचार

अथवा पद्धति; धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में, आधुनिक विचारों, शब्दों अथवा अभिव्यक्तियों के साथ परम्परा का सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति। दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय है आधुनिक व्यवहार, अभिव्यक्ति अथवा विशेषता; आधुनिक मनोवृत्ति या स्वभाव; ईसाई मत के सिद्धान्तों को विज्ञान के परिणामों और आलोचनाओं के अनुरूप समायोजित करने की प्रवृत्ति। आधुनिकीकरण का अर्थ है, वर्तमान समय, परिस्थितियों, आवश्यकताओं, भाषा, अथवा वर्ण-विन्यास के अनुसार ढलना, आधुनिक रीतियों को अपनाना।

स्पष्टतः, यह अर्थ यूरोप की विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का स्वाभाविक परिणाम है। यह उस देश के सन्दर्भ में अप्रासंगिक हो जाता है, जहाँ कोई चर्च नहीं था, कोई संगठित पुरोहित वर्ग नहीं था, कोई धर्म-सम्प्रदायगत उत्पीड़न नहीं था, और धार्मिक सम्प्रदायों तथा विज्ञानों के बीच कोई परस्पर विरोध नहीं था।

इसलिए इतर-यूरोपीय देशों के लिए 'आधुनिकीकरण' का अर्थ केवल 'भविष्य में सर्वांगीण प्रगति की सुनिश्चित व्यवस्था करने के उद्देश्य से आधुनिक काल की समस्याओं को हल करने और चुनौतियों का सामना करने का साधन' होना चाहिए।

पश्चिमीकरण की परिभाषा

और 'पश्चिमीकरण' क्या है ?

मोटे रूप से इसका अर्थ है 'पूर्वी लोगों अथवा देशों द्वारा पाश्चात्य जीवन के विचारों, आदर्शों, संस्थाओं, प्रणालियों, संरचनाओं, जीवन-यापन के मानदण्डों और जीवन-मूल्यों को अपनाया जाना।'

पश्चिमी अथवा पूर्वी !

किन्तु यह निर्धारित करना सरल नहीं है कि वस्तुतः 'पश्चिमी' क्या है। जहाँ तक मानवीय ज्ञान की निरन्तर बढ़ती हुई सीमाओं का सम्बन्ध है, यह उल्लेखनीय है कि 'सत्य' की कोई जाति, कोई समुदाय, कोई दल, कोई वर्ग, कोई राष्ट्र नहीं है। सत्य सदैव सार्वभौम होता है, यद्यपि यह हो

सकता है कि ऐसे 'सत्य' को सर्वप्रथम प्राप्त करने वाले या उसका बोध करने वाले व्यक्ति किसी राष्ट्र-विशेष, वर्ग-विशेष या क्षेत्र-विशेष के हों। उदाहरणार्थ, क्या कोई बता सकता है कि निम्नलिखित तत्त्व पश्चिम के हैं या पूर्व के ?

१. पाइथागोरस—जिसका उल्लेख अलेक्जेंड्रिया के राजा क्लीमेंट ने उसे 'एक ब्राह्मण का शिष्य' बताकर किया था—का सुप्रसिद्ध प्रमेय।

२. पश्चिम का परमाणु-सिद्धान्त, जिसकी पूर्व-धारणा सहस्रों वर्ष पूर्व कणाद के परमाणुवाद में की गयी थी।

३. हेगेल और मार्क्स का द्वन्द्ववाद, जिसकी परिकल्पना सर्वप्रथम कपिल मुनि द्वारा की गयी थी जिन्होंने इसे दर्शन के रूप में सूत्रबद्ध किया था।

४. यह तथ्य कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं, जिसे कापरनिकस ने और कापरनिकस से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय पूर्व आर्यभट्ट ने सिद्ध किया था।

५. डेमोक्रेटस का भौतिकवाद, जिसका सर्वप्रथम सूत्र (असतो सत् अजायत्—असत् से सत् उत्पन्न हुआ) शताब्दियों पूर्व बृहस्पति द्वारा लिखा गया था।

६. दिक्काल की वैज्ञानिक संकल्पनाएँ, जिनकी व्याख्या आइन्स्टाइन द्वारा की गयी और जिनका निरूपण सर्वप्रथम वेदान्ती दार्शनिकों द्वारा किया गया था।

७. द्रव्य की वैज्ञानिक परिभाषा, जो आधुनिक विज्ञान को सर्वप्रथम हाइजनबर्ग द्वारा और हिन्दुओं को पतंजलि द्वारा दी गयी।

८. दिक्-काल की सापेक्षता, ब्रह्माण्ड की एकता, दिक्काल का सांतत्यक, जिनका प्रतिपादन प्राचीन समय में वैदिक मनीषियों ने किया था और जिन्हें प्रमाणित इस शताब्दी में आइन्स्टाइन द्वारा किया गया।

९. वैज्ञानिक-दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया, जो नासदीय सूक्त के परमेष्ठि प्रजापति द्वारा प्रारम्भ की गयी और जिसे आइन्स्टाइन द्वारा शिखर तक पहुँचाया गया।

जैसाकि एच० जी० चेर्निशेवस्की ने कहा है, "आधुनिक विज्ञान की शाखाओं द्वारा जिन सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है और जिन्हें सिद्ध किया गया है, उन्हें पहले ही यूनानी दार्शनिकों ने और उनसे भी बहुत पहले भारतीय मनीषियों ने प्राप्त करके सही मान लिया था।"

सारा ज्ञान सार्वभौम है

सारांश यह कि :

समूचा ज्ञान सार्वभौम है; यह न पाश्चात्य है, न पौर्वात्य।

विज्ञान की सभी शाखाओं और प्रौद्योगिकी पर भी यही बात लागू होती है। यह सच है कि पश्चिम में इस दिशा में प्रगति यूरोपीय पुनर्जागरण के बाद प्रारम्भ हुई और इस समूचे मध्यवर्ती कालखण्ड में हम सामान्य गति से आगे नहीं बढ़ सके, जिसका एकमेव कारण यह है कि एक राष्ट्र के रूप में हम इस सम्पूर्ण अवधि में जीवन-मरण के संघर्ष में जूझ रहे थे; किन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यूरोपीय पुनर्जागरण से पूर्व, जब यूरोप में अन्धकार का युग था, हिन्दू विज्ञान और हिन्दू कलाएँ अरब देशों और फारस के मार्ग से यूनान पहुँची थीं। न्यूटन ने एक बार कहा था, "यदि मैं दूसरों से आगे देख सका हूँ तो इसका कारण यह था कि मैं महामानवों के कन्धों पर खड़ा था।"

जो बात व्यक्ति के बारे में सत्य है, वह राष्ट्र के बारे में भी उतनी ही सत्य हो सकती है। आज हम यूरोपीय महामानवों के कन्धों पर खड़े होने के आकांक्षी हैं; किन्तु पश्चिम इन महामानवों को जन्म ही इस कारण दे सका था कि पुनर्जागरण-काल में यूरोप का समूचा बुद्धिजीवी वर्ग हिन्दू महामानवों के कन्धों पर खड़ा था। इसलिए ज्ञान की किसी शाखा को 'पश्चिमी' अथवा 'पूर्वी' कहना अवास्तविक होगा। ज्ञान सम्पूर्ण रूप से सार्वभौम है।

भ्रामक विभेद

इसी प्रकार, पूर्व और पश्चिम के बीच के अन्तर का वर्णन आस्था और अनास्था अथवा आस्तिकता और नास्तिकता के रूप में करना भी

वास्तविकतापूर्ण नहीं होगा, यद्यपि यह सच है कि पश्चिम प्रधानतः भौतिकवादी है। भारत के आस्तिकों का पश्चिम के नास्तिकों से कोई झगड़ा नहीं है, क्योंकि उत्तरोक्त जन जिस ईश्वर की निन्दा करते हैं वह उस ईश्वर से भिन्न है, जिसकी पूर्वोक्त जन उपासना करते हैं। उनका ईश्वर वैयक्तिक ईश्वर है, हमारा ईश्वर अवैयक्तिक, अनाम और निराकार है।

चूंकि वह निराकार है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, प्रवृत्ति, आवश्यकता, मानसिक पृष्ठभूमि और बौद्धिक धरातल के अनुसार कोई भी आकार धारण करने अथवा न करने में वह समर्थ है। अनाम है, इसलिए कोई भी नाम धारण करने या न करने में सक्षम है। अतएव, ईश्वर की धारणा पर उनके प्रहार से चिन्तित होने की यहाँ तो कोई आवश्यकता ही नहीं है।

इसके विपरीत, भौतिकवादी दर्शन की इस घोषणा के बाद कि चेतना भौतिक पदार्थ का चरम विकसित रूप है, और विशेष रूप से आधुनिक विज्ञान की प्रगति के बाद, भौतिक और अभौतिक के बीच की सीमा-रेखा क्षीण से क्षीणतर और अब तो लगभग लुप्त होती जा रही है। हेनरी ग्रिस और विलियम डिक द्वारा लिखित 'द न्यू सोवियत साइकिक डिस्कवरीज' से भी इसी तथ्य का संकेत मिलता है। विशुद्ध भौतिक प्रकृति से प्रारम्भ करके नैसर्गिक प्रवृत्तियों, सहज बुद्धि और मनोवेगों सहित जैव विकास के माध्यम से मस्तिष्क के विकास, मेधा, तर्क और बुद्धिवाद तक या कि अतीन्द्रिय ज्ञान तक की वैचारिक यात्रा तथ्यात्मक हो या न हो, किन्तु यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि पदार्थ और ऊर्जा की परस्पर-रूपान्तरणीयता से पदार्थ अपनी आधारभूत प्रकृति को खो बैठा है और अब वह सदा वर्द्धनीय ब्रह्म के सैद्धान्तिक आक्रमण का विषय बन गया है। इस पृष्ठभूमि में, यह सोचने की बात है कि क्या आस्तिकता और नास्तिकता के बीच की लड़ाई अब वस्तुतः उन खोखले शब्दों के ऊपर होने वाली लड़ाई नहीं है जो अपनी मूल अर्थवत्ता खो बैठे हैं।

इसलिए, कुछ सम्प्रदाय-विशेषज्ञों द्वारा जो भेद दर्शाने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता।

मूलतः 'मानवीय'

नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, मनोवेग, लालसाएँ, बुद्धि, भावनाएँ, मनोभाव—और अन्तर्ज्ञान भी—मूलतः 'मानवीय' गुणधर्म हैं और इन्हें 'पश्चिमी' अथवा 'पूर्वी' नहीं कहा जा सकता।

तो यथार्थ में 'पश्चिमी' क्या है ?

संस्कृतियाँ भिन्न हैं

यद्यपि मानव-मन हर स्थान पर मूलतः एक जैसा ही है, फिर भी इस तथ्य से इन्कार करना अवास्तविक होगा कि अतीत में विभिन्न समाज भिन्न-भिन्न स्थितियों तथा भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक घटनाचक्रों से होकर आये हैं और इन बातों ने प्रत्येक समाज की सामूहिक चेतना पर गहरी छाप छोड़ी है। भूगोल और इतिहास इस अन्तर के मुख्य कारण हैं।

उदाहरणार्थ, भारत के बारे में विन्सेंट स्मिथ का कथन है कि "भारत जिस प्रकार समुद्रों और पर्वतों से घिरा हुआ है, उससे वह निर्विवाद रूप से एक भौगोलिक इकाई है और इस प्रकार उसे एक ही नाम से पुकारना सर्वथा उचित है। उसकी सभ्यता की भी ऐसी बहुत-सी विशेषताएँ हैं जो उसे विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों से भिन्न बनाती हैं; जबकि समूचे देश में ये विशेषताएँ इस सीमा तक समान रूप से विद्यमान हैं कि उसे मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास के इतिहास में एक इकाई मानने का पर्याप्त औचित्य है।"

अन्य बातों के साथ-साथ, भौगोलिक-राजनीतिक कारणों से इन अन्तरों के निर्माण में पर्याप्त योगदान मिलता है।

इन सभी विशिष्ट कारकों से विभिन्न संस्कृतियों का निर्माण होता है।

'संस्कृति' की परिभाषा

'संस्कृति' शब्द का अर्थ है किसी समाज के मानस पर पड़े प्रभावों की प्रवृत्ति, जो उसकी अपनी विशेषता होती है और जो उसके सम्पूर्ण इतिहास

में उसके मनोवेगों, मनोभावों, विचारों, वाणी और कार्यों का सम्मिलित परिणाम होती है। उदाहरणार्थ प्रभावों की यह प्रवृत्ति अरब के मरुस्थल और गंगा के मैदानों के समाजों में, या जर्मनी में, जो एक खुले मैदान में लगे शिविर के समान है, और इटली में, या एकाकी ग्रेट ब्रिटेन, आधुनिक अमरीका अथवा प्राचीन भारत में समान नहीं हो सकती।

निजी विशेषताएँ

आधुनिक पश्चिमी देशों की भी अपनी कतिपय सुनिश्चित विशेषताएँ हैं। उदाहरण के लिए, प्रधानतः भौतिकवादी होने के कारण इन्होंने एक मूल्य-प्रणाली विकसित की है, जिसकी धुरी है उपभोगवाद और जिसकी सहज परिणति है स्वेच्छाचार।

संस्कार—एक ऊपरी वस्तु !

पश्चिम पर अभी तक न्यूटन युग के विज्ञान का प्रभाव है, इसलिए वह इस मिथ्या धारणा से चिपटा हुआ है कि मन पदार्थ के ऊपर की एक बाह्य संरचना है और आधारभूत वस्तु पदार्थ ही है। इस कारण, सामाजिक-आर्थिक संरचना ही वह आधारभूत वस्तु है, जिसकी ओर हमें अनन्य रूप से ध्यान देना चाहिए। सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में उपयुक्त परिवर्तन हो जाने पर धर्म, संस्कृति, नैतिकता, साहित्य, कलाओं, आदि में, जो ऊपरी संरचनाएँ मात्र हैं, स्वयमेव तदनुरूप समुचित परिवर्तन हो जायेंगे। मन की ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है; संस्कार ऊपरी वस्तु है। आधुनिक पश्चिमी विचार-पद्धति की एकमेव चिन्ता का विषय है—सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण; उनके पास मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के विषय पर विचार करने का समय नहीं है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि नयी सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व में आ जाने पर मानसिक परिवर्तन अपने-आप हो जायेगा।

मानव केन्द्रवाद

मानवकेन्द्रवाद पश्चिम की एक अन्य विशेषता है। निस्सन्देह, मानववाद स्वार्थ-केन्द्रित व्यक्तिवाद से श्रेष्ठ है। प्रोटैगोरस ने घोषणा की थी

कि "मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है।" मार्क्स का कथन था कि "मनुष्य मानवता का मूल है।" राय ने आध्यात्मिक रूप से स्वाधीन, नैतिक मनुष्यों के सामूहिक प्रयास द्वारा विश्व को स्वतन्त्र मनुष्यों के संयुक्त समाज एवं बान्धवता के रूप में पुनर्निर्मित करने का समर्थन किया था। यह सब-कुछ प्रशंसनीय है। किन्तु इसमें हमारी अपनी मानव-जाति को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र मान लिया गया है, जोकि सृष्टि की अन्य सभी मानवेतर जातियों और घटकों के प्रति अन्याय है। मानवकेन्द्रवाद को मैक्सिम गोर्की के नाटक 'द लोअर डेप्थ्स' में एक पात्र द्वारा यह कहकर यथार्थ अभिव्यक्ति दी गयी है कि "सभी वस्तुएँ मनुष्य का अंश हैं; सभी वस्तुएँ मनुष्य के लिए हैं।" "मनुष्य ही सत्य है।" मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण सहन नहीं किया जा सकता, किन्तु मनुष्यों द्वारा अन्य प्राणियों के शोषण को प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है! हमने कुछ ही समय पूर्व 'मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणापत्र' तैयार किया है, परन्तु मानवेतर प्राणियों के कोई अधिकार नहीं हैं। कहते क्या हैं कि हम जो कुछ हैं वह 'संस्कृति' है, और जो कुछ हमारे पास है वह 'सभ्यता' है।

पश्चिमी मानववाद—पर्याप्त मानवीय नहीं

अपने विशिष्ट जीवन-मूल्यों के कारण, पश्चिम का मानववाद भी पर्याप्त रूप से मानवीय नहीं बन सका। पहली बात तो यह है कि यह ईश्वर-विरोधी और मानव-केन्द्रित है। और दूसरी बात यह कि एक ऐसे वातावरण का निर्माण यह नहीं कर सका जो मनुष्यों में आपसी मेल-मिलाप को बढ़ाने में सहायक हो। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व कोई यह कल्पना नहीं कर सकता था कि मानव-अधिकारों के सार्वभौम घोषणा-पत्र जैसा कोई प्रलेख कभी तैयार भी किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ और मानव-अधिकारों सम्बन्धी अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों के विभिन्न प्रतिज्ञापत्र एवं संकल्प अन्तरराष्ट्रीय विधि के आधार हैं, जिसका स्वरूप, सच पूछा जाय तो, पूर्णतः विधिक होने की अपेक्षा नैतिक ही अधिक है। किन्तु इस प्रयोजन से संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थात्मक ढाँचे के होते हुए भी सामान्यतः यह

अनुभव किया जाता है कि मानव-अधिकारों, नागरिक-स्वतन्त्रताओं और मूलभूत स्वाधीनताओं के संरक्षण की वास्तविक प्रत्याभूति जन-साधारण की जागरूकता के स्तर में, और अन्तरराष्ट्रीय सद्भावना के ठोस आधार पर लोगों के परस्पर-सम्बन्धों में निहित है। वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पश्चिमी रीति से केवल अधिकारों की बात करना भी पर्याप्त नहीं है। जॉन क्लीनिग ने ठीक ही कहा है कि "जबतक मानव-अधिकारों की मान्यता के साथ-साथ, अन्य लोगों के प्रति, व्यक्तियों के रूप में प्रेम, सहानुभूति और चिन्ता नहीं होगी, तब तक अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिक अभाव बना रहेगा। किसी दूसरे के लिए केवल इसलिए कुछ करना कि यह उसका प्राप्तव्य है, नैतिक रूप से कुछ अपर्याप्त है। अन्य व्यक्तियों के अधिकारों से प्रेरित कार्य अनाम अथवा अवैयक्तिक बने रहते हैं; किन्तु यदि ये कार्य दूसरे के प्रति प्रेम, सहानुभूति अथवा चिन्ता से प्रेरित होकर किये जायेंगे तो उनका केन्द्रबिन्दु उस दूसरे व्यक्ति-विशेष पर होगा। इस परवर्ती प्रकार के सम्बन्ध ही नैतिक रूप से पर्याप्त कहे जा सकते हैं। ये व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित होते हैं, जबकि अधिकार जातिगत होते हैं।" केवल 'अधिकारों' पर बल देना, पश्चिमी मूल्य-प्रणाली की अपनी विशेषता है।

विखण्डित दृष्टिकोण

इसके अतिरिक्त, पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली सदैव खण्डग्राही और उसकी कार्य-प्रणाली विखण्डनकारी रही है। (द्वितीय विश्व-युद्ध के समय ही पश्चिमी वैज्ञानिकों ने अन्तरशास्त्रीय दृष्टिकोण की उपादेयता को अनुभव किया)। उन्होंने सभी घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों और अन्योन्याश्रय को नहीं समझा। इस परस्पर-सम्बन्धित संसार में सभी भौतिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा पर्यावरणिक घटनाएं परस्पर-निर्भर हैं। मानव-जाति के सम्मुख अनेक विविध समस्याएँ उपस्थित हैं, किन्तु वे एक ही संकट के विभिन्न पक्ष हैं। जैसाकि एक विद्वान् लेखक ने कहा है, चाहे हम कैंसर, अपराध या प्रदूषण के बारे में बात करें अथवा नाभिकीय ऊर्जा, मुद्रा-स्फीति और ऊर्जा की कमी के बारे

में, इन सभी समस्याओं में अन्तर्निहित गतिविज्ञान एक ही है। पश्चिम ने अभी तक इस आधारभूत तथ्य को हृदयंगम नहीं किया है। उदाहरणार्थ, पश्चिमवासी अर्थ-शास्त्र को एक स्वतन्त्र, स्वायत्त और शेष समष्टि से पृथक् विषय मानते हैं। वे अपने परिमाणात्मक आर्थिक विश्लेषण को आर्थिक क्रिया-कलापों के पारिस्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों को समझने में सहायक गुणात्मक तत्त्वों के साथ तथा आय-उपार्जकों, उपभोक्ताओं एवं निवेशकर्त्ताओं के रूप में लोगों के व्यवहार पर किये गये अभिनव मनो-वैज्ञानिक अनुसंधानों के निष्कर्षों के साथ समाकलित नहीं कर पाते। अन्यान्य प्रकार के विकासों के सन्दर्भ और प्रकाश में विकास की अवधारणा को परिभाषित किये बिना 'विकास' के साथ उनका जो मोह है, उसके कारण अर्थशास्त्र सम्बन्धी सभी पश्चिमी विचारधाराएँ अयथार्थवादी और अप्रासंगिक हो गयी हैं। जब शूमेकर ने नितान्त भिन्न मूल्यों और लक्ष्यों पर आधारित दो आर्थिक व्यवस्थाओं की तुलना करके अर्थशास्त्र की मूल्य-निर्भरता को सिद्ध किया था, तो इन अर्थशास्त्रियों को अवश्य धक्का लगा होगा। एक है पश्चिमी भौतिकवादी व्यवस्था, जिसमें 'जीवन-यापन-स्तर' को वार्षिक उपभोग की मात्रा से मापा जाता है और इसलिए जो उत्पादन की अनुकूलतम पद्धति के साथ अधिकतम उपभोग प्राप्त करने का प्रयास करती है। दूसरी बौद्ध अर्थ-व्यवस्था है, जो "सम्यक् आजीव" और "मध्यम मार्ग" की धारणा पर आधारित है और जिसका उद्देश्य उपभोग की इष्टतम पद्धति के साथ अधिकतम मानव-कल्याण करना है। यद्यपि पश्चिम विभिन्न भौतिक कारकों के निर्देशकों की कल्पना कर सका है, किन्तु क्या वह मानवीय सुख-शान्ति और अन्य सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कारकों के निर्देशक तैयार करने में समर्थ हो सकेगा ?

समस्त नहीं, केवल निदर्शनात्मक

ऊपर जिन बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है, वे उदाहरण मात्र हैं, समस्त नहीं। किन्तु वे यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि पश्चिम की भी अपनी विशिष्टताएँ हैं।

अव्यावहारिक

क्या 'पश्चिमीकरण' का अर्थ इन सभी विशिष्ट बातों में पश्चिम का अन्धानुकरण करना है ?

और यदि हम सम्पूर्ण गम्भीरता से पश्चिम का अन्धानुकरण करना भी चाहें तो क्या यह हमारे लिए व्यावहारिक होगा ?

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने, जिन्होंने एक बार कहा था, "अपनी वस्तु को ठुकराकर विदेशी वस्तु की याचना करना निरर्थक भिक्षावृत्ति है" और साथ ही यह भी कि "विदेशी को अस्वीकार करके अपने-आपको बौना बनाना घोर दरिद्रता है", भारत द्वारा पश्चिम का अनुकरण किये जाने की निन्दा की थी। उन्होंने कहा था कि "परानुकरण अपने अस्थि-पंजर पर दूसरे की त्वचा चढ़ाने के समान है, जिससे त्वचा और अस्थियों के बीच निरन्तर कलह होता रहेगा।" यह अव्यावहारिक भी होगा और असहनीय भी।

यथास्थितिवाद ?

जैसे ही कोई व्यक्ति ऐसे विचार प्रकट करता है, तो हितबद्ध पक्षों द्वारा उसकी निन्दा यथास्थितिवादी कहकर की जाती है। यह नहीं अनुभव किया जाता कि हमारे अधिकांश समाज-सुधारक उत्कट देशभक्त थे और वे पश्चिमीकरण के बिल्कुल पक्ष में नहीं थे। पश्चिम का अनुकरण किये बिना भी प्रगतिवादी हुआ जा सकता है। ये दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं जो कभी-कभी परस्पर-व्यापी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, सऊदी अरब के शाह फहद ने, जो मक्का और मदीना में स्थित इस्लाम के पवित्र स्थानों के संरक्षक हैं, ७ जून, १९८३ को कहा था कि इस्लामी विधानों (शरियत) को समयानुकूल बनाने के लिए उन्हें संशोधित किया जाना चाहिए। मक्का में इस्लामी पंथ-गुरुओं के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के खुले अधिवेशन में उन्होंने जो सुझाव दिया था वह क्रान्तिकारी था, किन्तु वह उनके सामने अफगानिस्तान के शासक अमानुल्ला, ईरान के शाह, अथवा तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा के उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर रहे थे। भारत में आर्य-

समाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, सत्य शोधक समाज, हरिजन सेवक संघ, भारतीय आदिमजाति संघ, द्रविड़ कड़गम, नेशनल चर्च मूवमेंट, अनुसूचित जाति संघ, एम० एन० डी० पी०, अथवा मुस्लिम सत्य शोधक समाज को पाश्चात्यवाद के बिना क्रान्तिकारी सुधारवाद के ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

शुतुरमुर्ग की भाँति का पृथक्तावाद ?

अनुकरण करने से इन्कार करने पर एक अन्य कारण से भी आपत्ति की जा सकती है और भ्रम पैदा हो सकता है। इसका भ्रान्त अर्थ शुतुरमुर्ग की भाँति का पृथक्तावाद अथवा पश्चिम के विरुद्ध अयुक्तिसंगत पूर्वाग्रह लगाया जा सकता है। इस तथ्य को देखते हुए इस बात की सम्भावना और भी अधिक है, जैसाकि गुन्नार मिरडल ने अपनी पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में कहा है, "स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों के साथ निकट सम्बन्धों की रक्षा की गयी और कुछ दृष्टियों से उनमें और प्रखरता लायी गयी।" किन्तु, वास्तव में, यह भ्रम निराधार है। हमें पश्चिमी लोगों के प्रति द्वेष नहीं है। हम ऐनी बेसैण्ट, भगिनी निवेदिता, रोमाँ रोलाँ, अरविन्द आश्रम की 'श्री माँ', मीरा बेन, फेन्नर ब्रॉकवे, अरुंडेल, एल्विन आरनोल्ड टायनबी, लुई फिशर, अल्बर्ट श्वाइट्जर, मैक्स मूलर, शॉपेनहावर, गारबे, विंटरनिट्ज और अन्य ऐसे बहुत से लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्तियों के नामों को अति कृतज्ञता के साथ स्मरण करते हैं, जिनका भारत और उसकी संस्कृति के प्रति प्रेम हमारी परीक्षा और कठिनाई की घड़ी में हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। दलित राष्ट्रों के कुछ यशस्वी नेता, जैसे जोमो केन्याता, सीजर स्कैवेज, मार्टिन लूथर किंग, सिसली के गांधी के रूप में अभी-अभी विख्यात हुए डैनिलो डोलसी, और फिलीपीन के बेनिग्नो 'निनोय'-एक्विनो गांधीवादी विचारधारा और कार्य-प्रणाली के प्रति अपनी आस्था के कारण भारत की जनता के प्रीतिभाजन बन गये हैं तो यह एक सर्वथा अलग बात है। इसका पश्चिम के अन्धानुकरण की समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु क्या 'पश्चिमीकरण' शब्द का निहितार्थ ऐसा अनुकरण है ? अथवा इसका आशय कुछ भिन्न है ? कभी-कभी विशिष्ट सन्दर्भों या स्थितियों में कुछ अर्थ विकसित हो जाते हैं।

आशय

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के अन्तरराष्ट्रीय घटनाचक्र और विकसित तथा विकासशील देशों के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्याओं के कारण 'पश्चिमीकरण' शब्द को एक विशिष्ट रंगत प्राप्त हो गयी है, उस पर एक विशिष्ट अर्थ आरूढ़ हो गया है। अब यह मात्र एक पुस्तकीय शब्द नहीं रहा है , वरन् इसके तात्कालिक व्यावहारिक फलितार्थ हैं।

'पश्चिमीकरण'

जब 'पाश्चात्यवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो अभिप्राय होता है पश्चिमी संस्कृतियाँ और पश्चिमी प्रतिमान। तथा जब हम 'पाश्चात्यकरण' के साथ, अथवा उसके बिना, 'आधुनिकीकरण' की बात करते हैं, तो हम वास्तव में यह प्रश्न उठाते हैं कि पश्चिमी प्रतिमान (पैराडाइम) को प्रगति और विकास का सार्वभौम आदर्श (माडल) स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा नहीं।

'होमो फेबर' की भाषा में, क्या हमें आधुनिकता के आदर्शों और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं एवं अनुक्रमों को पश्चिमी राष्ट्रों के अनुभव तक सीमित रखना चाहिए ? क्या हमें विस्तृत और विविध समाजों को एक ही ऐतिहासिक साँचे में संकुचित कर देना चाहिए ? हो सकता है कि भावी इतिहास भी अतीत के अनुसार ही घटित हो, किन्तु क्या यह आवश्यक है कि वह पश्चिम के अतीत के अनुसार घटे ? अधिक हितकर विज्ञान के प्रयोजन से भी, क्या यह सर्वोत्तम नहीं होगा कि सामाजिक और समाज-शास्त्रीय कल्पनाओं की कोई सीमा निर्धारित न की जाये ?

अतः, 'पश्चिमीकरण' का आशय है, पश्चिमी प्रतिमान को प्रगति का सार्वभौम आदर्श स्वीकार करना।

जिस प्रकार सही निदान आधा उपचार होता है, उसी प्रकार प्रश्न की उपयुक्त रचना से उत्तर ढूंढ़ने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

प्रासंगिकता

हम में से कुछ संभवतः यह सोच रहे होंगे कि हिन्दुओं के इस देश में, जिनके पूर्वजों ने सभी दिशाओं से सद् विचारों का स्वागत किया था और 'पृथिव्यैः समुद्रपर्यन्ताम् एकराट्' की घोषणा की थी, यह सारी चर्चा अप्रासंगिक है। हिन्दुत्व की, जो इसके अनुयायियों को शेष मानव-जाति से अलग बनाता है, कतिपय विलक्षण और अद्वितीय विशेषताएँ हैं। भारत ने सदैव अन्तरराष्ट्रीयतावाद का समर्थन किया है। आधुनिक विश्व में अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सही स्वरूप को समझना उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की परा-राष्ट्रीय मतान्धताएँ और साम्प्रदायिकताएँ अन्तरराष्ट्रीयतावाद के वेश में विश्व-मंच पर बार-बार प्रकट हो रही हैं। वस्तुतः, विश्ववाद हिन्दुत्व की एक सुस्पष्ट विशेषता है। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना 'प्रवासी' का सहज स्मरण हो आता है, जिसमें उन्होंने कहा था—

"मेरा घर सर्वत्र सभी स्थानों पर,
लक्ष्य वही है मेरे अन्वेषण का।
मेरा देश सभी देशों में, मुझको
करना है संघर्ष उसे पाने का।।"

(प्रसंगवश एक उल्लेख कर दूं—युवा पीढ़ी को कदाचित् यह विदित न हो कि मानव-अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के संकल्प से पर्याप्त पूर्व १९२१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और रोमाँ रोलाँ ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया था जो संयुक्त राष्ट्र संघ के इस प्रलेख का अग्रज था।)

जैसाकि डा० राधाकृष्णन ने कहा है, "भारत का उद्देश्य अनेकता में एकता को ढूंढ़ना रहा है, परन्तु (विशेषतासूचक) भेदों को मिटाकर नहीं, वरन् (उन) भेदों को बनाये रखते हुए और उनमे समन्वय स्थापित करके।

अनेकों में एक का दर्शन करना और विविधता में एकता स्थापित करना इसका आधारभूत प्रयोजन रहा है।"

अनेकता में एकता देखने के अभ्यस्त होने के कारण, हिन्दू किसी भी क्षेत्र के नये विचारों और संरचनाओं को अपने अनुकूल ढालने में तथा उन्हें अपने राष्ट्र-जीवन में आत्मसात् करने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि भव्यता से जीवित रहने का मूल्य है निरन्तर आत्म-नवीनीकरण। सृष्टि के शाश्वत नियमों के प्रकाश में, अब से ग्यारह शताब्दी पूर्व तक उनकी सामाजिक व्यवस्था निरन्तर परिवर्तनशील रही। नीतिकारों द्वारा रचित विभिन्न स्मृतियों के माध्यम से, संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा पुरानी व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा और नयी व्यवस्था पुरानी व्यवस्था का स्थान लेती रही। हिन्दुओं की उदारता से विभिन्न प्रणालियों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की व्यवस्था हो सकी। वैलेण्टीन किरोल तक ने कहा है कि हिन्दू धर्म सदैव असाधारण रूप से तरल बना रहा और "इससे इसके अन्तर्गत परस्पर न्यूनतम से अधिकतम तक अन्तरों वाले भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को पनपने में सहायता मिली, जिनमें से कुछ विशुद्ध रूप से ईश्वरवादी थे तो कुछ घोर अनीश्वरवादी, किन्तु प्रायः ही उनकी परिणति सर्वेश्वरवाद (यूनिवर्सल पैन्थिइज्म) में हुई।" इसी विशेषता के कारण मैक्समूलर को यह कहने की प्रेरणा मिली : "यदि मुझसे पूछा जाय कि मानव मन ने किस आकाश के नीचे अपने सर्वोत्तम गुणों का सर्वाधिक विकास किया है, जीवन की सबसे बड़ी समस्याओं पर पूर्ण चिन्तन-मनन किया है और उनमें से कुछ का समाधान पा लिया है, जो उन व्यक्तियों के ध्यान के भी पात्र हैं जिन्होंने प्लेटो और कांट के दर्शन का अध्ययन किया है, तो मैं भारत की ओर संकेत करूंगा। यदि मैं अपने आप से पूछूं कि हम यूरोप-वासी किस साहित्य से ऐसी शिक्षा ले सकते हैं जो हमारे जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विश्वजनीन और वस्तुतः अधिक मानवीय बनाने के लिए सर्वाधिक आवश्यक है तो मैं पुनः भारत की ओर संकेत करूंगा।" हिन्दुओं को, जिनका देश, मैक्समूलर के अनुसार यूरोपीय भाषाओं और यूरोपीय धार्मिक सम्प्रदायों का आदि [illegible]

है और जिनके चिन्तक-मनीषी 'इस्लामी शरीर में हिन्दू आत्मा' अथवा 'भारतीय आत्मा और पश्चिमी द्रव्य के संश्लेषण' की बात कर सकते हैं, पश्चिम की किसी वस्तु को अंगीकार करने में भला घबराहट क्यों होगी ? क्या हमारे आधुनिक द्रष्टा ने यह नहीं कहा है, "उच्चतम और महत्तम लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्व और पश्चिम का समन्वय किया जा सकता है; आत्मा भौतिक तत्त्व को अंगीकार करे और भौतिक तत्त्व अपनी सच्ची और प्रच्छन्न वास्तविकता को आत्मा में ढूंढ़े" ?

न सरल है न निर्दोष

हमें स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिए कि पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया न इतनी सरल है और न ही निर्दोष। अतीत में हमने विदेशी संस्कृतियों, संरचनाओं और प्रणालियों में जो कुछ अच्छा देखा उसे अपने अनुकूल ढालकर और आत्मसात् करके अपने सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व को सदैव समृद्ध किया और सुदृढ़ बनाया है। किन्तु हर बार यह प्रक्रिया आत्मसात् करने की प्रक्रिया रही है। इसके विपरीत, 'पश्चिमीकरण' की अवधारणा का निहितार्थ है अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और राष्ट्रीय व्यक्तित्व को खो बैठना; इसका अभिप्राय है विदेशी संस्कृति द्वारा हमें आत्मसात् कर लिया जाना और उसमें हमारा विलीन हो जाना। यदि पश्चिम के पास कोई अच्छी वस्तु हमें बेचने के लिए हो भी, तो क्या हमें अपने व्यक्तित्व का मूल्य चुकाकर उसे खरीदना चाहिए ? यीशु मसीह ने पूछा था, "यदि तुम्हें पृथ्वी का शासन मिल जाये, पर उस व्यापार में तुम अपने आत्मा को खो बैठो, तो उसका क्या लाभ ?" वर्तमान सन्दर्भ में भी यह प्रश्न उतना ही संगत है।

आत्मसात्करण ? स्वीकार है। पर व्यक्तित्व गंवाना ? स्वीकार्य नहीं।

किन्तु 'आत्मसात्करण' 'पाश्चात्यकरण' की प्रक्रिया को नकारता है। हमारी चर्चा का केन्द्र-बिन्दु है 'पाश्चात्यकरण' की समस्या।

व्युत्पत्ति

इस सबकी व्युत्पत्ति क्या है ?

इतिहास ने अनेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। प्रत्येक साम्राज्य के चरमोत्कर्ष के समय उसकी सभ्यता उसके अधीनस्थ राज्यों द्वारा आदर्श मानी जाती थी। उसके पतन के बाद उसकी सभ्यता कुछ दशकों में अपनी चमक-दमक खो बैठती थी। पर श्वेत जातियों के साम्राज्यवाद की समाप्ति की विशेषताएँ ये हैं : (१) इसके भूतपूर्व उपनिवेशों में बौद्धिक एवं वैचारिक क्षेत्र पर इसकी पकड़ बनी रही है, जो साम्राज्य के दिनों में मस्तिष्क-प्रक्षालन के लिए किये गये प्रचार का स्वाभाविक परिणाम है और (२) साम्राज्यवादी देशों द्वारा इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं को अपने पाश में जकड़े रखने तथा उसे और सुदृढ़ करने के लिए दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रयत्न किया जाना, जिसके कारण उत्तरी श्वेत देशों और दक्षिणी अश्वेत देशों के बीच, जो गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अंग हैं, एक प्रकार की रस्सा-कशी प्रारम्भ हो गयी है।

मैकाले की सफलता

भारत में 'श्वेत मानव के दायित्व-भार' का विचार हिन्दू बुद्धिजीवियों से मनवाने, उनके मन में हीनता की भावना पैदा करने और उनसे यह स्वीकार कराने में मैकाले के प्रयास सफल हो गये कि यूरोपीय सभ्यता ही उच्च स्तरीय और आदर्श सभ्यता है। हमें यह बताया गया कि विश्व के प्रत्येक समाज या जाति के लिए विकास की उन अवस्थाओं में से पार होना आवश्यक और अनिवार्य है जो यूरोपीय इतिहास की विशेषताएँ हैं। प्रत्येक भारतीय स्थिति को यूरोपीय मानदण्डों से मापा जाना चाहिए, इससे कोई परित्राण नहीं है, क्योंकि, हमें बताया गया, यूरोपीय प्रतिमान ही प्रगति और विकास का सार्वभौम आदर्श है।

बढ़ता हुआ संशय

अब तो यह भी सन्देहास्पद है कि पश्चिमी प्रतिमान से पश्चिमवासियों को अपने चिरवांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने में भी सहायता मिल सकती

है या नहीं। अपने प्रतिमान की उपादेयता के बारे में पश्चिम में भी संशय बढ़ता जा रहा है। अब वे लोग अनुभव कर रहे हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की चकाचौंधपूर्ण उन्नति वस्तुत: एक अमिश्रित वरदान नहीं है। पारिस्थितिकीय तत्त्वों या भावी पीढ़ियों की नियति पर ध्यान दिये बिना, प्रकृति के साथ जो बलात्कार किया जा रहा है, वह अब उल्टा परिणाम दिखाने लगा है। अब उन्हें आशंका होने लगी है कि तदनुरूप सांस्कृतिक उत्थान के बिना औद्योगिक विकास मानवजाति को सम्पूर्ण विनाश की ओर ले जा सकता है।

रोग

इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उन सभी व्याधियों-विकारों को पहचान लिया है, जिनसे उनके समाज पीड़ित हैं। दीर्घकालिक और क्षयकारक 'सभ्यता के रोग', जैसे—हृदय-रोग, रक्त-चाप, कैंसर, एस टी डी, आदि; घोर अवसाद, उन्माद रोग और अन्य मानसिक विकार; हिंसक अपराधों आत्महत्याओं, दुर्घटनाओं, मद्यपान और अन्य मादक वस्तुओं के व्यसन में वृद्धि; ऊर्जा और प्राकृतिक संसाधनों, जैसे कोयले, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, धातुओं, वनों, मीन-भण्डारों, आक्सीजन, ओजोन आदि की तीव्र गति से समाप्ति; प्राकृतिक पर्यावरण का भ्रष्ट होना, जिससे न केवल मनुष्यों पर अपितु पौधों, पशुओं, पारिस्थितिकीय प्रणालियों तथा विश्व की जल-वायु पर कुप्रभाव पड़ रहा है और फलत: समूचे भू-मण्डल पर 'प्रदूषित वायु का मलिन आवरण' छा गया है; मुद्रा-स्फीति की ऊँची दर, व्यापक बेकारी और धन का कुवितरण; लाखों नाभिकीय शस्त्रास्त्रों का संग्रह, जिस पर संसार का एक अरब डालर प्रतिदिन से भी अधिक व्यय हो रहा है—ये सब वे विकार हैं।

'प्रौद्योगिकीय लोकायोग' (ओम्बड्समैन)

कुछ पश्चिमी वैज्ञानिकों का सुझाव है कि पश्चिम में प्रौद्योगिकी के और आगे विकास को नियन्त्रित करने, उसके बारे में मार्ग-दर्शन प्रदान करने और निर्देश देने के लिए 'प्रौद्योगिकीय लोकायोग' की स्थापना की

जानी चाहिए, जिसमें उच्च सांस्कृतिक स्तर के व्यक्ति सम्मिलित किये जायँ।

अग्राह्य मूल्य

इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए कि पश्चिम में अभी हर वस्तु प्रयोग की अवस्था में है और अभी समय की कसौटी पर उसका परीक्षण नहीं हुआ है, हमने उनके जीवन-मूल्यों की, जो भौतिकवाद, उपभोक्तावाद (यदि वस्तुत: भोगवाद नहीं), मानवकेन्द्रवाद और विशुद्ध व्यक्तिवाद पर आधारित हैं, सराहना और प्रशंसा करने की शीघ्रता की। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि ये वही जीवन-मूल्य हैं जो संयुक्त राज्य अमरीका में, जहाँ एकाकी और आत्म-विमुख व्यक्तियों की भारी भीड़ है, व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विघटन एवं छिन्न-भिन्न होने के लिए उत्तरदायी हैं।

उनकी जीवन-प्रणालियों में क्षय और गिरावट के लक्षण दिखाई देने लगे हैं।

पूँजीवाद का सुखाभास

'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' पूँजीवाद के नये युग के सुखाभास का द्योतक था। पूँजीवाद के एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संरक्षक, जॉन मेनार्ड कीन्स, अब कहने लगे हैं, "ह्रासमान अन्तरराष्ट्रीय किन्तु व्यक्तिवादी पूँजीवाद, जिसके हाथों में हमने अपने-आपको युद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) के पश्चात् पाया, सफल नहीं हुआ। यह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं, यह न्यायसंगत नहीं, यह सद्गुण-युक्त नहीं—और इससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। संक्षेप यह है कि हमें इससे अरुचि है और हमने इसका तिरस्कार करना प्रारम्भ कर दिया है।"

पश्चिमी संसदीय लोकतन्त्र

पश्चिमी संसदीय लोकतन्त्र की विफलता स्पष्ट है।

अलेक्जेंडर सोल्जेनित्सिन ने ठीक ही कहा है कि "आज पश्चिमी लोकतान्त्रिक देश राजनीतिक संकट और आध्यात्मिक विभ्रम की अवस्था में

हैं। दलीय प्रणाली के सम्बन्ध में उनकी निराशाजनक टिप्पणी उनके इस सुसंगत प्रश्न में व्यक्त होती है—"क्या राष्ट्रीय विकास का कोई दल-बाह्य अथवा नितान्त दल-विहीन मार्ग नहीं है ?"

हमारे देश में महात्मा गांधी, श्रद्धेय श्री गुरुजी, आचार्य विनोबा जी, लोकनायक जयप्रकाशजी और अन्य महान् विचारक पहले ही इस पश्चिमी प्रणाली के प्रति अपना संशय प्रकट कर चुके हैं। श्री मानवेन्द्रनाथ राय, जो सभी पश्चिमी संस्थाओं के अधिकारी विद्वान् थे, अपने २२वें शोध-प्रबन्ध और घोषणा-पत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रकाश में इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि दलीय राजनीति लोकतन्त्र के आदर्शों के अनुरूप नहीं है और इसके सत्ता-राजनीति के रूप में भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। परमाण्वीकृत निर्वाचक-गणों पर आधारित औपचारिक संसदवाद की सीमाओं के अन्दर नागरिकों को व्यक्ति के रूप में पूर्ण गरिमा के साथ खड़े होने की शक्ति नहीं प्रदान की जाती। श्री राय की मान्यता थी कि वैसा तभी किया जा सकता है, जब राज्य की पिरामिडीय संरचना सुसंगठित स्थानीय लोकतन्त्र की नींव पर खड़ी की जाय और राज्य का सम्पूर्ण समाज के साथ तादात्म्य हो। पश्चिम के निष्पक्ष विचारक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं।

समाजवाद की सफलता ?

यह बताना कठिन है कि पश्चिम में समाजवाद कहाँ पर और किस रूप में सफल हुआ है। जैसाकि सी० ई० एम० जोड ने कहा था, समाजवाद एक ऐसा टोप (हैट) है जो अपना स्वरूप खो बैठा है, क्योंकि हर व्यक्ति इसे पहनता है। औरतो और, पश्चिमी संसदीय लोकतन्त्र और श्रमिक-संघवाद के पालने (शिशु-शय्या) में भी, समाजवाद ने जन-मानस में अपना आकर्षण और पकड़ खो दी है, यह श्रीमती थैचर की गत दिनों की विजय से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, 'वैज्ञानिक समाजवादियों' के अनुसार तीसरे विश्व के देशों के लिए समाजवाद अप्रासंगिक है, क्योंकि आर्थिक बाहुल्य समाजवाद की एक आवश्यक पूर्व-शर्त है। मार्क्स ने 'जर्मन आइडियोलोजी' में लिखा

था, "(समाजवाद के लिए) व्यावहारिक आधार के रूप में उत्पादक शक्तियों का विकसित होना नितान्त आवश्यक है।" और सर्वाधिक आर्थिक बाहुल्य वाले देश संयुक्त राज्य अमरीका में समाजवादियों की कुल संख्या १०,००० से अधिक नहीं है।

कम्युनिज्म की विफलता

कम्युनिज्म भी, जो स्वयं को एक श्रेष्ठ विकल्प के रूप में प्रस्तुत करके सामने आया था, बुरी तरह से विफल रहा है।

हम यह केवल इसलिए नहीं कह रहे हैं कि मार्क्स की कुछ भविष्य-वाणियाँ सच सिद्ध नहीं हुई हैं। हम जानते हैं कि किसी सिद्धान्त की तर्क-संगति का निर्धारण करने की एकमेव कसौटी भविष्यवाणियों का सच होना या न होना नहीं है। हम एण्टोनियो ग्रामस्की, जीओर्जी लूकास और माओ त्से तुंग की इस बात से सहमत हैं कि भविष्य का पूर्वानुमान ठीक न लगा पाने से मार्क्सवाद की तर्कसंगति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम इस तर्कसंगति का मूल्यांकन इसके गुण-दोषों के आधार पर करते हैं।

१६४८ में यूगोस्लाविया की निंदा; पूर्वी जर्मनी (१६५३), हंगरी (१६५६), चेकोस्लोवाकिया (१६६८) और अफगानिस्तान (१६७६) में रूसी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन; पोल्लिट, गोल्लन, तोग्लियात्ती, लोंगो, बरलिंगुएर, कैरिल्लो और यूरो-कम्युनिज्म के अन्य नेताओं द्वारा विश्व की स्थिति का नये परिप्रेक्ष्य में अवलोकन; एक-केन्द्रीय कम्युनिस्ट विश्व के स्वप्न का भंग होना; सत्ताधारी कम्युनिस्ट दलों द्वारा मार्क्स के आधारभूत सिद्धान्तों से विचलन; कोस्टलर, जिलास, राय, डेन्ने और अन्य आदर्श-वादियों द्वारा कम्युनिस्ट विचारधारा का त्याग; पोलैण्ड और अन्य पूर्व-यूरोपीय (कम्युनिस्ट) देशों में श्रमिकों का विद्रोह; इटली और स्पेन के कम्युनिस्ट दलों के नेताओं द्वारा सार्वजनिक रूप से प्रकट निराशा, तथा द्विविधाग्रस्त नव-वामपन्थियों का प्रतिक्रियावादी उदय—ये सभी कम्यु-निज्म के क्षय के सुस्पष्ट संकेत हैं, यद्यपि जिस भवन के बनने में डेढ़ सौ वर्ष लगे हैं, उसके पूर्णतः धराशायी होने में कुछ और समय लगेगा।

अन्वेषण

पश्चिम के थोड़े से, किन्तु अधिक विवेकशील व्यक्ति पहले से ही एक नये मार्ग, एक नयी मूल्य-प्रणाली, एक नयी संस्कृति और एक नये प्रतिमान की खोज कर रहे हैं।

जिस लक्ष्य या उद्देश्य से पश्चिम का हितसाधन नहीं हुआ, वह पूर्व के लिए सहायक सिद्ध नहीं हो सकती।

कल्पना का निर्मूल सिद्ध होना

यूरोपीय अनुभव की सार्वभौमिकता की कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हुई है। इतिहासकार मोहम्मद कुतुब ने ठीक ही कहा है कि, "आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में साम्यवादी समाज और दासता, पूंजीवाद, और तब अन्तिम साम्यवाद अर्थात् अन्तिम साम्यवादी समाज की परिकल्पना की गयी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का वर्णन मानव-जाति के इतिहास की साझी घटना के रूप में किया जाता है, जबकि वास्तव में यूरोपीय इतिहास के बाहर इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यूरोप से बाहर की किसी जाति के लोग इन अवस्थाओं में से होकर कभी नहीं निकले।"

स्वावलम्बन अनिवार्य है

प्राचीन हिन्दू राष्ट्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त टिप्पणी अधिक संगत और महत्त्वपूर्ण है। इस सन्देह के लिए पर्याप्त आधार है कि राजनीतिक साम्राज्य की समाप्ति के बाद भी आर्थिक और वैचारिक साम्राज्यवाद को बनाये रखने के धूर्ततापूर्ण कुटिल उद्देश्य से प्रेरित होकर ही सार्वभौमिकता की उपर्युक्त मिथ्या धारणा का प्रचार किया गया है। तृतीय विश्व के देश उत्तर-दक्षिण वार्ता की निरर्थकता और स्वावलम्बन के लक्ष्य की अनिवार्यता को अधिकाधिक अनुभव करने लगे हैं। इस लक्ष्य के कारण विकास के आदर्श में परिवर्तन करना भी आवश्यक हो गया है।

व्यर्थ प्रयास

क्योंकि, दुर्भाग्यवश, तृतीय विश्व के देशों के लिए इतिहास अपने-आपको बिलकुल उसी ढंग से नहीं दोहरायेगा।

कुछ शुभ संयोग, जिनके सामूहिक परिणामों से औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, ये थे—वायुयान युग से पूर्व युग में समुद्री-मार्गों के भौगोलिक-राजनीतिक महत्त्व में हुई नयी वृद्धि; प्रचुर कच्ची सामग्री और विपणन की सम्भावनाओं वाले देशों पर शासन करने वाली शक्तियों की अपने देशों के विकास-कार्यों में तन्मयता; नौसैनिक शक्तिप्राप्त देशों के लिए साम्राज्य-निर्माण की परिस्थितियों का अनुकूल होना; उपनिवेशों के शोषण के आधार पर स्वदेशी अर्थव्यवस्थाओं का पोषण करने के व्यावहारिक अवसर उपलब्ध होना। ये सभी परिस्थितियाँ तृतीय विश्व के देशों के लिए फिर से उत्पन्न नहीं होंगी। श्वेत राष्ट्रों की समृद्धि का निर्माण जिन नींवों पर किया गया था, वे अब अश्वेत देशों को उपलब्ध नहीं होंगी। इसलिए पश्चिमी उदाहरण का अनुकरण करना तथा पश्चिमी प्रतिमान को आदर्श के रूप में स्वीकार करना निरर्थक है।

नये लक्ष्य की आवश्यकता

पश्चिमी प्रतिमान की निष्फलता और ऐतिहासिक घटना-चक्रों में महत्त्वपूर्ण अन्तर को देखते हुए, दक्षिणी देशों के सभी राष्ट्रीय संघर्षों के लिए नया लक्ष्य अथवा उद्देश्य निर्धारित करना आवश्यक है।

हम सब हिन्दू जीवन-लक्ष्य और उसे प्राप्त करने की पद्धतियों से सुपरिचित हैं। इसलिए मुझे उस सुपरिचित भूमिका को फिर से दोहराकर आपका बहुमूल्य समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

अनन्य विशेषताएँ

इस चर्चा के प्रयोजन की दृष्टि से इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि कोई हिन्दुओं की सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार करता है या नहीं। किन्तु सब लोग सर्वसम्मति से यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दू संस्कृति की अपनी सुनिश्चित विशेषताएँ हैं। हम भली-भाँति जानते हैं कि विश्व के सभी भागों के प्रबुद्ध मानवतावादी, चाहे वह हेनरी फोर्ड का पोता हो या स्टालिन की बेटी, भारत की यात्रा को एक तीर्थ-यात्रा मानते हैं। मैं दार्शनिक चर्चा में उलझ जाऊँगा, यदि मैं हिन्दू लक्ष्य, हिन्दू दृष्टिकोण और आदर्श हिन्दू

जीवन-पद्धति का वर्णन करने की चेष्टा करूँ। किन्तु उसकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं है।

अपना स्वकीय आदर्श

अतः मैं सीधे यह आग्रह करूँगा कि हमें अपनी संस्कृति, अपनी प्राचीन परम्पराओं के प्रकाश में, प्रगति और विकास का अपना स्वयं का आदर्श प्रतिमान तैयार करना चाहिए। हमें पश्चिम के प्रतिमान का गहराई से अध्ययन करना चाहिए और जहाँ सम्भव हो वहाँ उससे लाभ उठाना चाहिए, परन्तु उसे भविष्य के लिए अपना आदर्श प्रतिमान स्वीकार नहीं करना चाहिए। आपमें से कुछ को यह दृष्टिकोण पुस्तकीय (यदि लोकोत्तर नहीं) और आवेगजन्य (यदि भावुकतापूर्ण नहीं) लगेगा। जो लोग सुरक्षित होकर चलने और संकट न उठाने के अभ्यस्त हैं उन्हें यह बात अंधेरे में लगायी जाने वाली छलाँग—किसी अज्ञात समुद्र अथवा अपरिचित मार्ग पर उठाया जाने वाला विवेकशून्य पग लगेगी। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। हमारी अपनी सांस्कृतिक परम्परा और विपुल ऐतिहासिक अनुभवों के अतिरिक्त, कुछ अश्वेत देशों, जैसे जापान और माओ के चीन, के उदाहरण और अनुभव हमारे सामने हैं। हमें विदित है कि जापान ने चयनात्मक रूप में पश्चिमी प्रौद्योगिकी को अपनाकर भी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखा है और माओ में, जिसे मार्क्सवाद के चीनीकरण का श्रेय दिया जाता है, यह घोषणा करने का साहस रहा है कि "आधुनिकीकरण पश्चिमीकरण नहीं है"।

प्रौद्योगिकीविदों को निर्देश

दक्षिणी देश यदि अपनी हीन भावना त्याग दें और परस्पर सहयोग के लिए प्रतिबद्ध हो जायें तो वे अपने-आपको उससे कहीं अधिक समर्थ पायेंगे, जितना उत्तरी देश चाहते हैं कि वे (दक्षिणी देश) स्वयं को मानें। उन्हें छोटे-से बिआफ्रा के अनुभव से प्रेरणा मिलनी चाहिए। मानव तथा सामग्री सम्बन्धी उनके संसाधनों का स्तर कुछ भी हो, वे निश्चित रूप से अपनी स्वकीय औद्योगिक कार्य-नीति चुन सकते हैं और अपना औद्योगिक

मानचित्र बना सकते हैं। वे कार्यकुशलता का आजीविका के साथ सामंजस्य स्थापित करके 'जन-शक्ति द्वारा उत्पादन' के आदर्श-वाक्य का पालन कर सकते हैं और जहाँ तक सम्भव हो, डा० शूमैकर की मध्यवर्ती अथवा उपयुक्त प्रौद्योगिकी अपना सकते हैं। इस क्षेत्र में नये प्रवेशकर्ता होने के कारण, वे आरम्भ से ही पारिस्थितिकी, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बारे में समेकित दृष्टि अपना सकते हैं। उनके स्वदेशी प्रौद्योगिकी-विदों से, चाहे उनकी संख्या कितनी भी हो, यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे—

समूचे विश्व-भर की औद्योगिक प्रौद्योगिकी का गहराई से अध्ययन करें और उसे आत्मसात् करें;

विदेशी प्रौद्योगिकी के जो अंश स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हों, उनका पता लगायें और उन्हें अपनायें;

शिल्पियों के लाभ के लिए उत्पादन की परम्परागत प्रविधियों में युक्ति-संगत रूप से अपनाये जा सकने वाले परिवर्तन करें और ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखें कि श्रमिकों की बेकारी न बढ़े, उपलब्ध प्रबन्धकीय और प्राविधिक कौशल व्यर्थ न जाये और उत्पादन के वर्तमान साधनों का पूर्ण विपूंजीकरण न हो, तथा विद्युत् शक्ति की सहायता से, उत्पादन की प्रक्रियाओं के विकेन्द्रीकरण पर भारी बल देते हुए, स्वदेशी प्रौद्योगिकी विकसित करें, जिसमें उत्पादन का केन्द्र कारखाने के स्थान पर घर हो।

नये मूल्य अंगीकार करें

इसके अतिरिक्त, उन्हें पश्चिमी जीवन-मूल्यों का परित्याग करना होगा, और (१) वेतन-विभेदकों और स्तर-विभेदकों की एक समन्वित प्रणाली विकसित करनी होगी जिससे समानता का प्रोत्साहन के साथ ताल-मेल इस तथ्य को देखते हुए बिठाया जा सके कि यदि जीवन के मूल्य विशुद्धतः आर्थिक अथवा भौतिकवादी होंगे तो धन के न्यायोचित वितरण तथा सर्वोच्च व्यक्तिगत विकास के लिए प्रोत्साहन के बीच असंगति बनी रहेगी, (२) तदनुसार ऐसा मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक वातावरण तैयार करना

होगा जिसमें सामाजिक स्तर और वैयक्तिक धन के बीच का अनुपात सदैव उल्टा हो।

नव-विज्ञान आन्दोलन

यह उत्साहवर्धक है कि भारत में आधुनिक विज्ञान का संस्कृति के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करने के विदेशियों द्वारा प्रेरित प्रयत्नों का कुछ सुप्रतिष्ठित वैज्ञानिकों द्वारा विरोध किया जा रहा है। कुछ समय पूर्व परमाणु-ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष डा० राजा रामन्ना ने इस तर्क का खोखलापन दर्शाया है कि विज्ञान और आध्यात्मिकता के संश्लेषण की बात करना केवल रूढ़िवादिता तथा पुनरुत्थानवाद मात्र है। भारतीय विचार केन्द्र द्वारा कुछ अन्य संस्थाओं के सहयोग से २४ जून, १९८३ को त्रिवेन्द्रम में आयोजित संवाद-गोष्ठी में पढ़े गये एक निबन्ध में, बंगलौर के भारतीय विज्ञान संस्थान (इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ साइंस) के श्री के० आई० वसु ने एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की। उन्होंने अपने द्वारा आरम्भ किये गये 'स्वदेशी विज्ञान आन्दोलन' के दर्शन की व्याख्या की। अपने वक्तव्य के अन्तिम परिच्छेद में, उन्होंने कहा, "इस अभियान में वैज्ञानिक अनुसंधान, विकास और शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के पुनर्निर्धारण की अविलम्ब आवश्यकता है। इसके लिए राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी नीति तथा राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी योजना तैयार करना आवश्यक है। ऐसी नीति और योजना का आवश्यक तत्त्व यह होगा कि यह आत्मा और कार्यान्वयन—दोनों ही दृष्टियों से पूर्णतः स्वदेशी हो। केवल ऐसे स्वदेशी विज्ञान आन्दोलन से ही हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है, हमारी ग्रामीण व्यवस्था सुरक्षित रह सकती है, हमारी संस्कृति की रक्षा हो सकती है तथा सम्पूर्ण विश्व की सेवा हो सकती है।"

स्वदेशी प्रौद्योगिकी आन्दोलन

इसी प्रकार क्लाड एल्वरेस और धर्मपाल स्वदेशी प्रौद्योगिकी आन्दोलन चलाने के लिए भारी प्रयत्न कर रहे हैं, यद्यपि अभी तक उन्होंने इसका नामकरण नहीं किया है। क्लाड एल्वरेस का विश्वास है कि प्रगति के लिए

हर संस्कृति का अपना प्रतिमान और आदर्श होता है तथा प्रौद्योगिकी का विकास उस प्रतिमान और आदर्श की विशेषताओं के अनुरूप होना चाहिए।

भारत में विश्व का तीसरा सबसे बड़ा वैज्ञानिक समूह है। उचित रूप से प्रेरित किये जाने पर, हमारे वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीविद् निश्चय ही इस कार्य को पूरा कर सकते हैं।

राष्ट्रीय संकल्प का अभाव

ईश्वर की कृपा से हमें वे सारे साधन उपलब्ध हैं, जिनसे कोई देश महान् बन सकता है। मानवीय, भौतिक और बौद्धिक साधनों में हम किसी से पीछे नहीं हैं।

जिस वस्तु का अभाव है, वह है राष्ट्रीय संकल्प, जिससे राष्ट्रीय एकता का आविर्भाव होता है।

स्मरण रखें कि यहाँ क्षमता का नहीं, केवल राष्ट्रीय संकल्प और एकता का अभाव है।

नयी व्यवस्था के बारे में श्री गुरुजी के विचार

इसी बात पर बल देते हुए श्रद्धेय श्री गुरुजी ने कहा था, "जब एक बार एकता की जीवन-धारा हमारे राष्ट्र-पुरुष की सभी धमनियों में निर्बाध रूप से प्रवाहित होनी प्रारम्भ हो जायेगी, तो हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न अंग स्वयमेव सक्रिय होकर समन्वित रूप से समूचे राष्ट्र के कल्याण के लिए काम करने लगेंगे। इस प्रकार का जीवन्त और वर्धमान समाज अपनी अनेकानेक व्यवस्थाओं और पद्धतियों में से, जो अंश उसकी प्रगति के लिए आवश्यक एवं सहायक होगा उसका संरक्षण करेगा और जिन बातों की उपयोगिता समाप्त हो गयी है उन्हें त्याग देगा तथा उनके स्थान पर नयी प्रणालियाँ विकसित करेगा। पुरानी व्यवस्था के जाने पर आँसू बहाने की और नयी व्यवस्था के आगमन का स्वागत करने में संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सभी जीवित एवं वृद्धिशील प्राणियों की यही प्रकृति है। जैसे एक पेड़ बढ़ता है, पके पत्ते और सूखी टहनियाँ झड़

जाती हैं तथा नये-नवल पत्तों के लिए स्थान बन जाता है। ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि एकात्मता के जीवन-रस का संचार हमारे सामाजिक ढाँचे के सभी अंगों में होता रहना चाहिए। प्रत्येक व्यवस्था या पद्धति का जीवित रहना, परिवर्तित हो जाना, अथवा उसका पूर्णत: लोप हो जाना इस बात पर निर्भर है कि उससे उस जीवन-रस का पोषण हो रहा है अथवा नहीं। इसलिए वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में ऐसी सभी व्यवस्थाओं के भविष्य पर चर्चा करना व्यर्थ है। समय की सर्वोपरि माँग अन्तर्निहित एकता की भावना को पुनरुज्जीवित करना और हमारे समाज में उसके जीवन-लक्ष्य के प्रति जागरूकता पैदा करना है, शेष सभी बातें अपने आप ठीक हो जायेंगी।"

सदा एक, पर नित्य नवीन

'द सेक्रेड थ्रेड' में जे० एल० ब्रोकिंग्टन ने भी यही विचार व्यक्त किया है, जब उन्होंने कहा कि, "परम्परा (हिन्दुओं के लिए) सदैव वही नहीं है जो दिखाई देती है, वरन् नयी जानकारियों और परिवर्तित परिस्थितियों को स्थान देने के लिए उसका निरन्तर पुनर्भाष्य होता रहा है। नवीनता परम्परा की शत्रु नहीं है, वरन् इसीके द्वारा परम्परा अपनी प्रासंगिकता बनाये रखती है। हिन्दुत्व नये के समर्थन में पुराने का बहिष्कार नहीं करता, वरन् नयी द्विविधाओं और नये प्रश्नों को परम्परागत भाषा में अभिव्यक्त करते हुए तथा सुस्थापित दृष्टिकोणों को नयी अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हुए दोनों का सम्मिश्रण करता है। अपने आपको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेने का सामर्थ्य अपने सारे इतिहास में हिन्दुत्व की विशेषता रही है और उसके विविध सूत्रों को एक सूत्र में बाँधने वाला कारक है इस प्रकार परम्परा और परिवर्तन के ताने-बाने की इस अद्भुत बुनाई में सन्निहित उनका साझा इतिहास। हिन्दुत्व सदा एक है फिर भी नित्य नवीन बनता रहा है।"

अभूतपूर्व संकट

राष्ट्रीय संकल्प का जागरण न केवल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य के लिए, अपितु श्री गुरुजी द्वारा परिकल्पत हिन्दू राष्ट्र के विश्वजनीन लक्ष्य

को पूरा करने के लिए भी आवश्यक है। उनके देहान्त के बाद विश्व की स्थिति तीव्रता से बिगड़ती गयी है। पश्चिमी बुद्धिजीवियों को उत्तरोत्तर यह बोध हो रहा है कि, "अपनी इस शताब्दी के अन्तिम दो दशकों के आरम्भ में हम अपने आपको एक गम्भीर, विश्वव्यापी, जटिल, बहु-आयामी संकट में घिरा पाते हैं जिससे हमारे जीवन के सभी पक्ष—हमारा स्वास्थ्य और हमारी आजीविका, हमारे पर्यावरण और सामाजिक सम्बन्धों की गुणवत्ता, हमारी अर्थ-व्यवस्था, प्रौद्योगिकी और राजनीति प्रभावित हुए हैं। यह एक ऐसा संकट है, जिसके बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक आयाम हैं; यह एक ऐसा संकट है जिसका आकार तथा महत्त्व अभिलेखबद्ध मानव इतिहास में अभूतपूर्व है। प्रथम बार हमारे समक्ष इस ग्रह से मानव-जाति तथा सम्पूर्ण जीवन के विनाश का वास्तविक संकट उपस्थित हुआ है।"

दाँते तथा आधुनिक समाज की एक सर्वोत्तम टीकाकार डोरोथी सेयर्स ने कहा है—

"हर व्यक्ति इस बात से सहमत होगा कि नरक पाप और भ्रष्टाचार में डूबे मानव-समाज का चित्र है, और आज जब हम पर्याप्त रूप से यह स्वीकार करते हैं कि समाज की स्थिति शोचनीय है और यह श्रेष्ठता की ओर नहीं बढ़ रहा है तो हम सरलता से यह जान सकते हैं कि भ्रष्टाचार के गह्वर की ओर पहुँचने के मार्ग कौन से हैं। निरर्थकता की भावना; जीवन्त आस्था का अभाव; लम्पटता, लालचपूर्ण उपभोग, वित्तीय अनुत्तरदायित्व; अनियन्त्रित क्रोध, दुराग्रही और हठपूर्ण व्यक्तिवाद, हिंसा; असफलता की की भावना; जीवन और सम्पत्ति के प्रति, जिसमें अपना जीवन और सम्पत्ति भी सम्मिलित है, अनादर की भावना; यौन भावना का दुरुपयोग, विज्ञापन और प्रचार द्वारा भाषा को दूषित करना, धर्म का वाणिज्यीकरण, अन्ध विश्वासों का पोषण और सभी प्रकार के जन-उन्माद तथा 'वशीकरण' द्वारा लोगों के मन का अनुबन्धन; सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार और जोड़-तोड़, पाखण्ड, भौतिक वस्तुओं में भ्रष्टाचार, बौद्धिक भ्रष्टाचार, अपना स्वार्थ साधने के लिए फूट डालना (वर्गों के बीच और राष्ट्रों के बीच); संचार-साधनों का दुरुपयोग और विनाश; घटिया तथा-

मूर्खतापूर्ण जन-भावनाओं का अनुचित लाभ उठाना; सगे सम्बन्धियों, देश, मित्र तथा ली गयी निष्ठा की शपथ के साथ विश्वासघात; ये वे सर्वविदित अवस्थाएँ हैं जो समाज को मृत्यु की ओर धकेलती हैं और सभी सभ्य सम्बन्धों को समाप्त कर देती हैं।"

ख्यातिप्राप्त आधुनिक चिन्तक कापरा का मत है कि पश्चिमवासी अब तक अन्तर्ज्ञान की अपेक्षा तर्कसंगत ज्ञान का, धर्म की अपेक्षा विज्ञान का, सहयोग की अपेक्षा प्रतियोगिता का, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की अपेक्षा उनके दोहन का पक्ष लेते रहे हैं······और अन्य बातों के साथ-साथ इन कारणों से एक गम्भीर सांस्कृतिक असन्तुलन उत्पन्न हो गया है जो हमारे वर्तमान संकट का मूल है—हमारे विचारों और अनुभूतियों, हमारे मूल्यों और मनोवृत्तियों तथा हमारे सामाजिक और राजनीतिक ढाँचों में असन्तुलन का मूल। वह कहते हैं कि, "वर्तमान संकट संवेदनशील संस्कृति से संक्रमण है। व्यक्तियों, समाज, सभ्यता और भू-मण्डलीय पारिस्थितिकीय व्यवस्था के रूप में हम एक मोड़ पर पहुँच रहे हैं।"

पश्चिमी प्रतिमान अपर्याप्त है

क्या पश्चिमी प्रतिमान इस 'मोड़' पर असमंजस से ग्रस्त मानव-समाज की सहायता कर सकता है ?

विद्वान् लेखक कहता है, "आज हमें जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है एक नया 'प्रतिमान'—वास्तविकता के प्रति एक नयी दृष्टि; हमारे विचारों, बोधों और मूल्यों में एक मूलभूत परिवर्तन।"

क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव-इतिहास में आये इस अभूतपूर्व संकट के समाधान के लिए पश्चिमी प्रतिमान नितान्त अपर्याप्त साधन है ?

यह उन सभी के लिए चेतावनी और एक सीख है जो बड़े चाव से आशा और विश्वास करते हैं कि पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है।

विद्वानों के मत

इस सन्दर्भ में हिन्दू संस्कृति के विद्वानों द्वारा व्यक्त विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

टायनबी

यह कहा जा रहा है कि आज भारत के सामने ऐसी हर प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका सामना मनुष्य-जाति को करना पड़ रहा है, किन्तु इन सभी देशों में से केवल भारत ही अनेकता में एकता का दर्शन करने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण इन कठिनाइयों पर विजय पाने का सामर्थ्य रखता है। परिणामतः, केवल भारत ही विपदाग्रस्त विश्व को नया और सही मार्ग दिखा सकता है। ऐसी आरनोल्ड टायनबी की मान्यता है।

वुडरोफ

सर जॉन वुडरोफ को विश्वास है कि हिन्दुओं के सांस्कृतिक विचार पश्चिम में फैलेंगे, उनकी प्राचीन संस्कृति की भावना जीवित रहेगी, भले ही उस जाति को, जिसने इन विचारों को जन्म दिया है, भविष्य में कुछ भी हो जाये। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में कुछ ऐसे लोग हैं जो "इस संक्रमणकाल में और विदेशी प्रभाव से उत्पन्न संशय के कारण ऐसी किसी बात में विश्वास नहीं करते और जो किसी भी पश्चिमवासी के समान ही भौतिकवादी हैं, यद्यपि प्रायः उनसे कम उपयोगी रूप में।" किन्तु भारत "अपनी रक्षा करने के लिए अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अतिरिक्त और कहाँ से बल प्राप्त कर सकता है? संसार के सभी राष्ट्रों द्वारा भारत की आध्यात्मिक सभ्यता के उदात्त और मूल सिद्धान्तों का समर्थन किये जाने तथा उन्हें अंगीकार किये जाने से विश्व-शान्ति की स्थापना होगी।"

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द ने आसन्न विश्व-संकट की प्रकृति की स्पष्ट रूप से पूर्व-कल्पना कर ली थी और उन्होंने विश्वासपूर्वक घोषणा की थी कि "....वह (भारत) यदि इच्छा करे तो उन समस्याओं को, जिनसे समूची मनुष्य-जाति आक्रान्त है और लड़खड़ा रही है, एक नया और निर्णायक मोड़ दे सकता है, क्योंकि उनके समाधान का सूत्र उसके प्राचीन ज्ञान में निहित है।"

श्री गुरुजी

श्री गुरुजी ने कहा था, "हिन्दुओं का समग्र विश्व को एक सूत्र में बांधने वाला महान् विचार ही मानवीय भाईचारे को स्थायी आधार प्रदान कर सकता है, अन्तरात्मा का वह ज्ञान मानव-मन में मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए जूझने की उदात्त भावना का संचार कर सकता है और इसके साथ-साथ इस भू-तल के प्रत्येक लघु जीव को अपनी पूर्णता के साथ विकसित होने का पूर्ण और निर्बाध अवसर प्रदान कर सकता है।"

साधन और साध्य

आज मानव-जाति के समक्ष मुख्य अथवा अधिक संगत प्रश्न आधुनिक बनने या न बनने का नहीं है। आधुनिकीकरण केवल एक साधन है, स्वयं साध्य नहीं। साध्य—चरम लक्ष्य—क्या है ? धर्म के अनुसार यह लक्ष्य है सबका सम्पूर्ण, ठोस, निरन्तर और शाश्वत सुख। जिस सीमा तक आधुनिकीकरण इस प्रयोजन की पूर्ति में सहायक है, वहाँ तक उसका स्वागत है। किन्तु इस सर्वोच्च लक्ष्य को यदि आधुनिकीकरण के साधन से प्राप्त किया जाता है, तो हमें इसे पश्चिमीकरण के समरूप समझना बन्द कर देना चाहिए।

□□□